मशालची

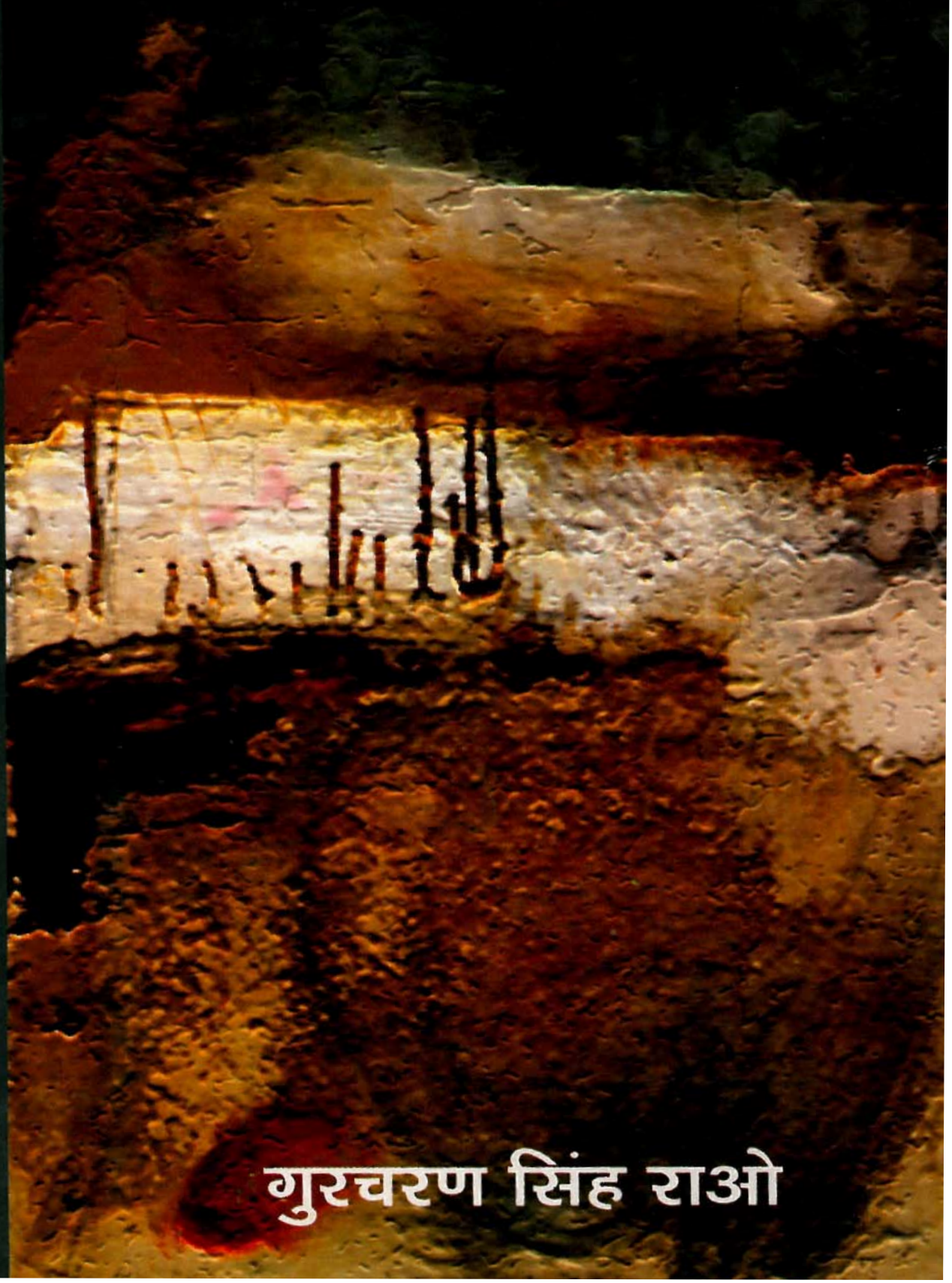

गुरचरण सिंह राओ

इस उपन्यास के आने से पहले पंजाब में लिखा जाने वाला साहित्य, जिसे प्रगतिवादी साहित्य कहा जाता था और जो साम्यवादी विचारधारा के नामी-गिरामी लेखकों द्वारा लिखा जा रहा था, अधिकतर लघु व मझोले किसानों की दुर्दशा पर ही केंद्रित था। इन छोटे किसानों के मुँह से गिरे दानों को लपक कर अपना पेट पालने वाला यह दलित खेत-मजदूर, जो अति निम्न दशा में अपना जीवन ढोने को अभिशप्त था, इस प्रगतिवादी साहित्य के केंद्र में कभी नहीं रहा। इन तथाकथित प्रगतिवादी साहित्यकारों की यह एक स्वाभाविक कार्यशैली थी या जानबूझ कर अपनाया गया रुझान था—यह शोध का विषय है, लेकिन इस तथ्य को झुठलाया नहीं जा सकता कि इन प्रगतिवादी कहे जाने वाले साहित्यकारों ने दलितों के सामाजिक व जातीय उत्पीड़न को अपनी कलम की नोक पर नहीं आने दिया। उन्होंने उनकी इन समस्याओं को एक सिरे से दरकिनार कर दिया। अपनी पीठ पर तमाम किस्म की कठिनाइयों का बोझ ढोता हुआ दलित इन पंजाबी लेखकों के एजेण्डे पर कभी नहीं देखा गया। शायद यही कारण है कि दलित-साहित्य की इस परिभाषा को हम चाह कर भी खारिज नहीं कर पाते कि दलित-साहित्यकार ही दलित साहित्य लिख सकता है। प्रस्तुत उपन्यास दलित-साहित्य की इसी परिभाषा को सार्थक करता हुआ पाठकों के समक्ष उपस्थित होता है। दलित-जीवन की तमाम संवेदनाओं को जिस सशक्त ढंग से इस उपन्यास में उतारा गया है, उसे साहित्य के क्षेत्र में एक नई साहित्यिक उपलब्धि कहा जा सकता है। ऐसा भी नहीं है कि इस उपन्यास के बाद आने वाले साहित्य में दलित-संवेदनाओं को छुआ नहीं गया, लेकिन जिस महीन और कलात्मक ढंग से इस उपन्यास के पात्र उभरे हैं, संपूर्ण पंजाबी साहित्य उसके पास भी नहीं फटक पाया। मशालची का केंद्रीय पात्र कट्टू जिस जीवंतता से उभरा है, उतना जीवंत पात्र आज का कोई भी दलित या गैर दलित साहित्यकार प्रस्तुत नहीं कर पाया। ग्रामीण दलित-जीवन की भयावह त्रासदियों और उनके ठेठ पंजाबी परिवेश को रूपायित करने वाला यह उपन्यास अन्य लेखकों के लिए आज भी एक उदाहरण बना हुआ है।

—द्वारका भारती

इस उपन्यास के मूल लेखक
गुरुचरण सिंह राओ
को ही,
जो अब इस संसार में नहीं हैं

दिशा दे सकता है यह उपन्यास

'मशालची' गुरुचरण सिंह राओ का पहला उपन्यास है। उन्हें पंजाबी दलित साहित्य का प्रथम हस्ताक्षर कहा जा सकता है तो उनके इस दलित उपन्यास को पंजाबी दलित कथा साहित्य का प्रथम दस्तावेज़। इस उपन्यास की कथा 20वीं सदी की शुरुआत से लेकर आजादी के कुछ बरस बाद की अवधि में घटित है। यह दलित समाज की सीढ़ी के अन्तिम डण्डे पर बैठे उस वर्ग की बेगार करने वाली, बंधुआ, भूमिहीन, 'सीरी', खेतिहर दलित जमात पर हो रहे जुल्मों का दस्तावेज़ है—जो सर्वहारा है—और जिन्दा रहने के लिए पूरी तरह अपने शोषकों पर निर्भर है। दिनदहाड़े इस जमात की स्त्रियों का यौनशोषण, रात-दिन बेगार करना, बच्चों को पढ़ाने के बजाए पशु चराने के काम में झोंकना, इस समाज की मजबूरी है। जिसका नाम ही गाली बन गया—जिसकी जात ही गाली है—उस समाज की कथा है यह। युद्ध के दौरान का भारत, युद्ध के बाद का भारत, आजादी के सपने की कीमत दंगों और देश के बंटवारे से चुकाता भारत, विकास के सपने, विकास के मंदिरों से बेरोजगार, बेदखल और विस्थापित होता भारत, इसमें उकेरा है तो आजादी से मोहभंग, सपनों का टूटना... सपनों को साकार करने हेतु युवा पीढ़ी का हिंसा-अहिंसा सभी हथियारों को अपनाना—लोकतंत्र की ललक और उसकी उड़ती धज्जियाँ—सभी को लेखक ने अपने ठेठ ग्रामीण परिवेश, ढंग और भाषा में प्रस्तुत किया है।

गुरुचरण सिंह राओ अपने शब्दों की छैनी से गोद-गोद कर उकेरता गया है वह सब—जिसके कारण छोटा किसान बड़े जमींदारों का साथ देने, चापलूसी करने, उनके आदेश पर अपनी ही या अपने जैसी दलित जमात पर जुल्म करने को अभिशप्त है, जो उनकी त्रासदी है।

जब मैंने 'मशालची' उपन्यास पढ़ा तो बचपन में देखे पंजाब के गाँव मेरी आँखों के सामने उकिर आए और उकिर आए 'पाथियों' के ढेर (गोबर से बनी गोल पाथियाँ) खेतों की मेढ़ों पर बेगारी करने जाते वे सर्वहारा दलित, 'सीरी', खेतिहर, भूमिहीन मजदूर जिनके झोपड़ों की जमीन भी उनकी अपनी नहीं होती थी। जो बस दूसरों की दया पर जिन्दा रहते थे। जुल्म सहना जिसकी आदत बन गई थी। उनकी

औरतों का यौन शोषण उनके लिए कोई मायने नहीं रखता था। बच्चों का स्कूल जाना तो सोच के दायरे में ही नहीं होता था। आतंक और डर में जीना जिनकी नियति था।

ऐसे समाज का एक युवक इस उपन्यास का नायक है, जो शोषण, सामन्तवाद, पूंजीवाद, भ्रष्टाचार, जातिवाद, अंधविश्वास, परम्पराओं के मकड़जाल को चीर कर अपने समाज को मुक्ति की जंग में उतारने के लिए प्रतिबद्ध है—कटिबद्ध है। इसी प्रयास में लोकतंत्र का अपहरण करने वाली ताकतों के इशारे पर, वह अपनों द्वारा ही मार दिया जाता है।

गुरुचरण सिंह राओ आज हमारे बीच नहीं हैं लेकिन वे अपने इस प्रथम और अन्तिम उपन्यास के माध्यम से कई प्रश्न छोड़ गए हैं, जिनका उत्तर जरूरी है।

इसीलिए हमने इस उपन्यास को हिन्दी पाठकों के लिए अनुवाद करवा और सम्पादित कर प्रकाशित करना जरूरी समझा, ताकि सबसे समृद्ध कहे जाने वाले पंजाब की धरती पर जाति, सामन्तवाद और पूंजीवाद की पकड़ और बोल-बाले के प्रश्नों पर बहस चलाई जा सके और यह खोज की जा सके कि पंजाब की समृद्धि में इन सर्वहारा दलित जमातों का इतना बड़ा योगदान होने के बावजूद उस समृद्धि में उनकी हिस्सेदारी कंगाली का शून्य ही छू पाई। प्रश्नोत्तर और खोज की इस प्रक्रिया में भारत के बाकी प्रदेशों के लोग भी हिस्सेदारी कर सकें यही हमारा उद्देश्य है। हमारी समझ है कि वर्ग और वर्ण की लड़ाई को इक-दूजे का पूरक बनाकर समानता की जंग लड़ने में यह उपन्यास एक दिशा दे सकता है।

—रमणिका गुप्ता

अनुवादक की ओर से

सन् 1986 में लिखे इस कालजयी पंजाबी उपन्यास 'मशालची' के लेखक डॉ. गुरुचरण सिंह राओ हैं। यह पंजाबी का एकमात्र ऐसा उपन्यास है जो कि पहली बार एक दलित लेखक की कलम से निकला है। पंजाब की सांस्कृतिक, धार्मिक व सामाजिक पृष्ठभूमि में लिखा गया यह उपन्यास, जहाँ पंजाब के सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक स्वरूप का दिग्दर्शन करवाता है, वहीं गुरुओं की धरती कहे जाने वाले आर्थिक तौर पर समृद्ध पंजाब में दलितों के जीवन का यथार्थवादी चित्रण भी करता है। इस उपन्यास के आने से पहले पंजाब में लिखा जाने वाला साहित्य, जिसे प्रगतिवादी साहित्य कहा जाता था और जो साम्यवादी विचारधारा के नामी-गिरामी लेखकों द्वारा लिखा जा रहा था, अधिकतर लघु व मझोले किसानों की दुर्दशा पर ही केंद्रित था। इन छोटे किसानों के मुँह से गिरे दानों को लपक कर अपना पेट पालने वाला यह दलित खेत-मजदूर, जो अत्यन्त ही निम्न हालात में अपना जीवन ढोने को अभिशप्त था, इस प्रगतिवादी साहित्य के केंद्र में कभी नहीं रहा। इन प्रगतिवादी साहित्यकारों की यह एक स्वाभाविक कार्यशैली थी या जानबूझ कर अपनाया गया रुझान था—यह शोध का विषय है, लेकिन इस तथ्य को झुठलाया नहीं जा सकता कि इन साहित्यकारों ने दलितों के सामाजिक व जातीय उत्पीड़न को अपनी कलम की नोक पर नहीं आने दिया। उन्होंने उनकी इन समस्याओं को एक सिरे से दरकिनार कर दिया। अपनी पीठ पर तमाम किस्म की कठिनाइयों का बोझ ढोता हुआ दलित इन पंजाबी लेखकों के एजेण्डे पर कभी नहीं दिखा। शायद यही कारण है कि दलित-साहित्य की इस परिभाषा को हम चाह कर भी खारिज नहीं कर पाते कि दलित-साहित्यकार ही दलित साहित्य लिख सकता है। प्रस्तुत उपन्यास दलित-साहित्य की इसी परिभाषा को सार्थक करता हुआ पाठकों के समक्ष उपस्थित होता है। दलित-जीवन की तमाम संवेदनाओं को जिस सशक्त ढंग से इस उपन्यास में उतारा गया है, उसे साहित्य के क्षेत्र में एक नई साहित्यिक उपलब्धि कहा जा सकता है। ऐसा भी नहीं है कि इस उपन्यास के बाद आने वाले साहित्य में दलित-संवेदनाओं को छुआ नहीं गया, लेकिन जिस महीन और कलात्मक ढंग से

इस उपन्यास के पात्र उभरे हैं, संपूर्ण पंजाबी साहित्य उसके पास भी नहीं फटक पाया। पंजाबी के प्रसिद्ध उपन्यासकार गुरदयाल सिंह का उपन्यास 'मढ़ी दा दीवा' एक दलित-उपन्यास माना जाता है लेकिन उस उपन्यास में दलित-जीवन का नहीं, दरिद्रता व अज्ञानता के स्वर ही उभरे हैं। जाति के नाम पर ढोए जा रहे अपमान के धुंए का पंजाबी उपन्यासों में कोई वर्णन नहीं मिलता। मशालची का केंद्रीय पात्र कट्टू जिस जीवंतता से उभरा है, उतना जीवंत पात्र आज का कोई भी दलित या गैर दलित साहित्यकार प्रस्तुत नहीं कर पाया। ग्रामीण दलित-जीवन की भयावह त्रासदियों और उनके ठेठ पंजाबी परिवेश को रूपायित करने वाला यह उपन्यास अन्य लेखकों के लिए आज भी एक उदाहरण बना हुआ है।

इस उपन्यास को जब लिखा गया था तब तक पंजाब में न तो दलित-साहित्य को पहचान मिली थी और न ही मान्यता। उस समय इस प्रकार का साहित्य लिखना दलित-जीवन की तरह एक बदबूदार काम माना जाता था। शायद यही कारण था कि उस समय इस उपन्यास की बहुत ज्यादा चर्चा नहीं हो पाई और उसमें छिपी साहित्यिक चिंगारी गुमनामी की राख में दबी रही। इसी उपन्यास का आज पुनः, हिन्दी के पाठकों द्वारा, मूल्यांकन होने जा रहा है। इस उपन्यास की मार्मिकता का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि इसका अनुवाद करते समय अनुवादक की आँखें नम हुई हैं। दलित-जीवन में व्याप्त घोर मानसिक व शारीरिक यातनाओं का सजीव वर्णन पाठक की व्याकुलता को चरमसीमा तक पहुँचा देता है। कट्टू की स्कूल से लेकर, खेत मजदूर बनने तक की जीवन-यात्रा इतनी मानसिक यंत्रणाओं से भरी-पूरी है कि पाठक का हृदय खून के आंसू रोने लगता है। गाँवों में उच्च जाति के जमींदारों के आतंक की परछाइयों के नीचे जीती निरीह दलित औरतों को किस तरह एक मेमने-सरीखी जिन्दगी जीनी पड़ती है, खेतों की मेढ़ों पर किस तरह उनका मानमर्दन किया जाता है, इसे जिस वेदनामयी और स्वाभाविक शैली में चित्रित किया गया है कि पाठक का मन रो ही नहीं पड़ता—उसकी मुट्ठियाँ भी अपने आप कसने लगती हैं।।

गाँवों में अपना पैतृक कार्य अर्थात् पशुओं की खाल उतारते हुए तथा दिन-रात जूते बनाते हुए दलितों की बन चुकी भद्दी शारीरिक-बनावट, तपेदिक बीमारी से ग्रस्त सूखी लकड़ी-सी जीर्ण-काया ढोते हुए निरीह-दलित, बेगार करवाने के लिए पशुओं की तरह हांक कर ले जाते हुए दलितों की मनोदशा का सजीव चित्रण पाठक के अंतर्मन में एक नश्तर की तरह कहीं गहरे गड़ जाता है।

साहित्यिक जगत् में कृतियाँ रची जाती हैं और रची जाती रहेंगी—सृजन होता है और होता रहेगा, पर इस कृति के अनुवादक के तौर पर मैं कहना चाहूँगा कि ऐसी हृदयवेधक कृति कभी-कभार ही कागज पर उतरती है।

दलित-साहित्य के प्रति दीवानगी की हद तक दखल रखने वाली बहुआयामी

साहित्यिक-प्रतिभा श्रीमती रमणिका गुप्ता का मैं विशेष आभार प्रकट करना चाहूँगा कि उन्होंने इस साहित्यिक-कृति को हिन्दी मे प्रकाशित करवाने में विशेष रूचि दिखाई है। इस पुस्तक का आपके हाथों में होना, उनके ही प्रयासों का फल है।

पंजाब के दलित-चिंतक ज्ञान सिंह बल, पंजाबी के कवि मदनवीरा जिन्होंने इस उपन्यास का पंजाबी संस्करण, जो कि लगभग अप्राप्य ही था, उपलब्ध करवाया, चरणदास संधू, पटविंद सिंह पल्लव एडवोकेट का आभारी हूँ, जिन्होंने इस उपन्यास को आप तक पहुँचाने में मेरी सहायता व नैतिक बल प्रदान किया।

अनुवाद कार्य में यदि कोई त्रुटि रह गई हो तो सुधी पाठक नजरअंदाज करेंगे। इस उपन्यास के लेखक गुरचरण सिंह राओ आज हमारे बीच नहीं हैं। हिन्दी का यह संस्करण उनके प्रति एक श्रद्धांजलि है।

—द्वारका भारती

एक

दूसरे विश्व युद्ध का ऐलान हो गया था। बहुत सारे भारतीय नेताओं ने बड़े ढीले ढंग से 'भारत छोड़ो आन्दोलन' शुरू किया था। दूसरी तरफ करतार सिंह 'सराभा', भगत सिंह, सुखदेव और राजगुरु की कुरबानियों के उपरान्त नेता जी सुभाष चन्द्र बोस और जनरल मोहन सिंह जैसे क्रांतिकारी नेता 'महात्मा जी' के अहिंसावादी सिद्धान्त के साथ मतभेद रखते हुए अपने तरीके से देश की गुलामी की ज़ंजीरें तोड़ने जा रहे थे।

जैसे ही बचनी की दर्द से भीगी हुई आवाज़ बन्द हुई, उसी समय नवजात बच्चे के रोने की आवाज़ें शुरू हो गईं। भगतू ने बचनी के लिए पानी गरम करने के लिए, अपने कच्चे घर की छत से लकड़ी उठा कर गली में नीचे गिरा दी। आसमान की ओर देखते हुए उसकी नज़र अमावस के बाद दिखाई दिए चाँद पर पड़ी। तारे आसमान पर टिमटिमा रहे थे। वहाँ कोई टूटता हुआ तारा तो उसको नज़र नहीं आया लेकिन उसने अपने पैरों के नीचे छत की एक कड़ी टूटने की आवाज़ ज़रूर सुनी। टूटती कड़ी की आवाज़ सुनते ही उसने ऊपर से ही ससुराल से आई अपनी बहन को आवाज़ देकर पूछा–

"अरे भानी! नीचे से क्या टूटने की आवाज़ आई है।"

"भाई बधाई हो, बचनी के लड़का पैदा हुआ है।" भानी ने छत की टूटी हुई कड़ी को भूलते हुए कहा।

"बचनी के लड़का हुआ, बचनी के लड़का हुआ?"

जैसे भगतू को अपनी बहन के कहने पर विश्वास न हुआ हो। लेकिन अपने घर के भीतर से नए जन्मे बच्चे के रोने की आवाज़ें सुनकर उसका मन हुआ कि बेटे के जन्म की खबर चिल्ला-चिल्लाकर सभी को बताए। वह कहना चाहता था–"ओ मुहल्ले वालो, देखो, मेरे घर भी लड़का हुआ है। तुम सभी बचनी को 'वियाड़' (बाँझ) कहते थे। सालो! आओ, सभी अपनी आँखों से देखो।" पर वह चुप रहा। जल्दी-जल्दी करके वह छत से नीचे उतर आया। दरवाज़े के अन्दर जाने से पहले उसने अपने हाथ में पकड़ी बीड़ी के दो कश